'ओ अमम्मा मा!'

ओ अप्रस्तुत मन !

[कविताएँ १६४३-१६५८]



भारतभूषण अग्रवाल





राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्रथम बार
१९५८

मूल्य चार रुपये

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली, इलाहाबाद, बम्बई, पटना, मद्रास

मुद्रक
चन्द्रप्रकाश ऐरन
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

गलत रास्ते पर गर्व से जाने वालों का
साथ न दे सकने वाली
अपनी हिचक को
श्रद्धापूर्वक

वक्तव्य



'ओ अप्रस्तुत मन ! ' की कविताएँ आपके सामने लाते हुए मुझे कुछ सकोच हो रहा ह।

यो, यह मेरा पहला काव्य-सग्रह नही ह। 'तार सप्तक' के एक कवि के नाते पूर्व-परिचित होने के अतिरिक्त भी म उससे पहले 'छवि के बधन' और 'जागते रहो ! ' एव उसके बाद 'मुक्तिमाग' नामक सग्रह छपा चुका हूँ। पर वे सग्रह केवल मित्र-मण्डली में ही चक्कर लगाकर रह गए, उन पाठको तक वे नहीं पहुँच सके, जिन तक पहुँचना हर लेखक को जरूरी होता ह।

मेरे सकोच का यह कारण बाहरी ह , पर एक और भी कारण है जो कविता के तत्त्व तक पहुँचता ह और मेरे सकोच को गहरा बना देता ह। आज की काव्य-धाराओ में म अपने-आपको कुछ विचित्र स्थिति में पाता हूँ। वादो, सम्प्रदायों और सगठनो के इस घटाटोप में म कुछ अकेला सा अनुभव करता हूँ। यही नही, अपनी कविता के माध्यम से मैं अभी किसी ऐसे परम-तत्त्व की भी उपलब्धि नही कर सका हूँ, जो अकेला ही ताल ठोककर उच्च स्वर की गजना में कह सकूँ कि यह म हूँ। मेरी कविता में जो मन झलक रहा है, वह सचमुच अप्रस्तुत ही ह।

इस सग्रह के शीषक की चचा कुछ मित्रो से छिडी ह। किसी को भी यह नाम-करण नही रुचा। उन्होंने तरह-तरह के तक इसके विरुद्ध दिये, और उन सभी तको की सगति म स्वीकारता हूँ। फिर भी मने शीषक बदलना नहीं चाहा, क्योकि वह मेरी कविता का जितना सही परिचय देता ह, उतना और कोई शीषक नहीं दे सकता था। और जब बाहर के सब मूल्यो का पानी उतर जाए, और सारे वादो मतो के रग कच्चे निकल जायें तब कवि के पास एक ही उपाय रहता ह कि वह अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार रहे। अगर इस ईमानदारी को वह

छोडना चाहे, या उसे दूसरे इतर तर्कों के आगे छोटा मानना चाहे, तो उसे कवि बने रहने की भी क्या बाध्यता है ! मुझे नहीं लगा कि मै किसी भी शर्त पर यह ईमानदारी छोड देना चाह सकता हूँ।

और ईमानदारी की बात यह है कि मेरी रचना अधूरी रचना है। जो मै लिखना चाहता था, वह मै अभी तक नही लिख सका। बच्चन ने एक कविता में कहा है 'जीवन बीत गया सब मेरा जीने की तैयारी में।' अपने विषय में मै इस पंक्ति को पूर्णत चरितार्थ मानता हूँ। और रचना अधूरी रह जाने के कारण मन भी अप्रस्तुत ही रह गया, वह आज भी कसौटी पर चढने को तैयार नहीं है। आज के युग में मध्यवर्गीय मन की कला-साधना जन्म से ही अभिशप्त होती है। उसका उत्कर्ष ही आश्चर्य का विषय बन सकता है। बचपन से ही काव्य रचना की ओर प्रवृत्त होकर मैने अपने सारे जीवन को उसके अनुकूल बनाने का निरंतर प्रयास किया है। और जब परिस्थितियो ने ऐसा न करने दिया तो निराशा, व्यर्थता और अपूर्णता का बोध स्वाभाविक है। अपनी कविता को ही मै अपनी एकमात्र सम्पत्ति मानूं, ऐसा छायावादी मै नहीं हूँ, पर अपनी कविता को अपने मन की निश्छल और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति दे सकूं, यह प्रयास मेरा सदा रहा है और रहेगा।

मेरी पहली रचना 'माधुरी' सन १९३६ में प्रकाशित हुई थी। उस दिन को अब बीस वर्ष बीत चुके है। इस अवधि में मैने काफी लम्बी दूरी पार की है, और काव्य के अनेक मोडो से गुजरा हूँ। बीच-बीच में मुझे साथी भी मिलते रहे है और यात्रियो की भीड भी, पर आज अपने को अकेला पाता हूँ। यह नहीं कि अन्य कवियो की कविता में मुझे रस नहीं मिलता, या उनके भाव मुझमें प्रतिध्वनित नहीं होते, पर किसी की भी रचना से मुझे यह नहीं लगता कि जो मै कहना चाहता हूँ वह कह लिया गया है, और इसलिए अब मेरे कहने की जरूरत नहीं है। अभिव्यक्ति की यही दुर्निवार माग मुझे काव्य क्षेत्र में रोके हुए है, और अभिव्यक्ति की यही एकान्त अनुभूति मुझमें हिचक उत्पन्न करती रहती है। इस द्विविधा में अनेक बार मेरी रचना रुक जाती है, अधूरी रह जाती है या फिर अधूरे मन से पूरी होती है। ऐसी कविताएँ जो मेरे सम्पूर्ण मन के प्रबल वेग से कागज पर उतरी है, अपेक्षाकृत कम है।

विभक्त व्यक्तित्व शायद इसी को कहते है। और जो इस या उस सिद्धात के प्रति प्रतिश्रुत होने के कारण नित्य—निरन्तर परिवर्तनीय जीवन दृश्य से

अप्रभावित रहकर अपने मन को बदलने के लिए तयार नहीं ह, उन्हें व्यक्तित्व का यह विघटन विचित्र भी लग सकता ह, और दयनीय भी। पर आज की जिंदगी में मध्यवर्गीय मन के लिए और कोई राह नहीं ह। खासकर ऐसे मन के लिए जो खुला रहना चाहता ह, खुला रहकर जीवन के नानाविध नाना स्तरीय प्रभावों को ग्रहण कर पचाना चाहता ह, और वतमान की जटिल-से जटिल कठिनाइयों में जूझते रहकर भी भाग जाना, या ओट खडी करना नहीं चाहता। जिस जीवन की हलचलों से दूर अपने ही भीतर लीन होना पलायन ह, अतीत की ओर सतृष्ण दृष्टि से निहारना या कल्पना-लोक की सृष्टि कर उसमें विहार करना पलायन ह, यह तो सभी स्वीकारते ह। पर जीवन के किसी एक विशिष्ट मतवाद के लिए प्रतिश्रुत होकर यथार्थ की अनदेखी करना भी उतना ही गर्हित पलायन ह, यह बात बहुत से मित्र अभी नहीं पहचान सके ह। मतों, सिद्धान्तों, वादों और नारों के साम्प्रतिक चक्रान्त में किसी एक की परिधि में अपने को सीमित कर काव्य रचना करना और उस परिधि में कीर्ति ध्वजा फहरा लेना आसान तो ह, पर उससे कवि धम का निर्वाह नहीं हो सकता। जिन विविध शक्तियों से हमारा जीवन निरन्तर अनुप्रेरित और अनुरूपित हो रहा है, उनसे बचने का कोई उपाय आज के सच्चे कवि के पास नहीं ह। और इसीलिए प्रतिश्रुत यानी पक्षधर कवि से अधिक दयनीय प्राणी और दूसरा कोई नहीं ह। मध्यवर्गीय मन सुविधा या प्रशंसा के लोभ में, या अधकचरे ज्ञान के भ्रम में बडे वेग से पक्षधरता की ओर झुकता है। कवि को ईमानदारी ही उसको थामे रह सकती ह। ऐसे में यदि कवि ने अपनी ईमानदारी को तिलांजलि दे दी, तो वह अपने मौलिक धम से च्युत होकर सिद्धान्त-वाणी का प्रचारक होकर रह जाता ह। और यदि वह अपनी ईमानदारी के बल पर प्रतिश्रुति से दूर रहना चाहता ह तो उसके चारों ओर का प्रतिकूल वातावरण उसे अकेला बना देता ह, यहा तक कि उसकी हिम्मत टूटने लगती ह। परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की टकराहट में टूटने की यह विवशता आज के ताने-बाने की अनिवाय शत ह। ऐसी परिस्थितियों में सच्चे रास्ते को अपनाने की इच्छा साहस की माग करती ह और इसीलिए मन में हिचक उत्पन्न करती ह। यही यह हिचक ह, जिसे मने अपने समपण में अपनी श्रद्धा अर्पित की ह।

कविता के प्रति ईमानदारी यह कोरा शब्द जाल नहीं ह। प्रमाण-स्वरूप म आपके आगे अपना यह सग्रह रख रहा हूँ। इसकी रचनाएँ महान ह, ऐसा मेरा

दावा नहीं है। वे महान हो भी नहीं सकती थीं क्योंकि वे एक साधारण मध्यवर्गीय मन की सच्ची तस्वीरें हैं। पर उनमें—उनमें से प्रत्येक कविता में—मध्यवर्गीय मन की सच्ची छटपटाहट आपको मिलेगी, इतना दावा मैं जरूर कर रहा हूँ। अपने से दूर, ऊपर, परोक्ष की शक्तियों से अनुप्रेरित अनुशासित होते रहने की विवशता, अपनी सीमित शक्ति की व्यर्थता के प्रति खीझ, और अपने छोटे-से छोटे सपने को भी पूरा न कर सकने की झुंझलाहट—इन कविताओं में ये तत्व आपको निश्चय मिलेंगे। और इन सब के साथ ही साथ एक गुण आपको और मिलेगा, जिसका मुझे विशेष रूप से गर्व है। इनमें आपको मध्यवर्गीय मन की क्षुद्रता, स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता पर निर्मम व्यंग्य भी मिलेगा। यह व्यंग्य मेरी ईमानदारी का अंतिम प्रमाण है।

एक प्रकार से मेरा वक्तव्य समाप्त है, पर हिंदी आलोचना के क्षेत्र में सम्प्रति जो संकुचित मनोवृत्ति प्रदर्शित की जा रही है, उसके कारण कुछ स्पष्टीकरण अत्यंत आवश्यक है। पिछले बीस वर्षों में कविता ही हिंदी आलोचना की प्रधान विषय रही है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि वही सबसे कम पढ़ी जाती है। वादों और सिद्धांतों की बहस में आज के बहुत-से आलोचक इतने बहक गए हैं कि रचना के मूल्यांकन को गौण और उपेक्षणीय समझा जाने लगा है। यही कारण है कि आप कविता के विविध पहलुओं पर लम्बे-लम्बे लेख पाएँगे, जिनमें एक भी उद्धरण नहीं, एक भी प्रमाण नहीं। आज का आलोचक मौलिक आलोचना करने लग गया है। रचना से वह असंपृक्त है। अपनी स्थापनाओं का प्रमाण वह स्वयं बन बैठा है, कवि को परखने का काम उसे व्यर्थ लगता है। यदि कोई आलोचक इस रोग से थोड़ा बहुत मुक्त है भी तो वह पूर्वग्रहों का चश्मा पहन कर मैदान में आता है। उसे सम-सामयिक जीवन का अध्ययन करने का कोई अवकाश नहीं, फिर उस जीवन की भूमिका में रचना की जाँच का प्रश्न ही नहीं उठता। यह दशा इतने दयनीय स्तर पर पहुँच चुकी है कि कल्पना भी मात है। मेरे एक आलोचक बंधु ऐसे हैं, जो तब तक किसी कविता के सम्बन्ध में अपना मत नहीं दे सकते जब तक यह न मालूम हो जाए कि यह किसकी लिखी हुई है। यहाँ तक कि मेरी एक कविता के सम्बन्ध में उनका यह मत था कि कविता तो अच्छी है, पर वह मुझको नहीं लिखनी चाहिए था, क्योंकि उनके मत में मुझे एक सिद्धान्त विशेष का समर्थन करने वाली कविताएँ ही लिखनी चाहिए। इस हास्यास्पद स्थिति का कारण

यही है कि उन्होंने अपने मन में कवियों का वर्गीकरण और मूल्यांकन कर रखा है और उसमें अब किसी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। पूर्वग्रह पोषित इन प्रतिश्रुत आलोचकों ने हिंदी-साहित्य को कितने गलत मोड़ दिये हैं और कितनी प्रतिभाओं की बलि ली है, यह अवान्तर बात है। यदि आज भी हिंदी कविता अपने अस्तित्व पर गर्व कर सकती है, तो इन आलोचकों की असमर्थता के ही कारण।

इन आलोचकों से मेरा निवेदन है कि आप मेरी इन कविताओं को पढ़ने का कष्ट न करें। उनसे आपको कोई सुख, कोई सन्तोष नहीं मिल सकेगा। क्योंकि आपको सत्साहित्य की चाह नहीं है, पक्ष-पुष्टि की चाह है। और कविता में—यानी सच्ची कविता में—पक्ष-पुष्टि नहीं होती, यथार्थ होता है। और यदि आप गल्ती से पढ़ भी बैठें, तो पढ़कर भुला दें। धूल उड़ाने से आपकी आंखों को ही कष्ट होगा।

पर अपने पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन यह है कि मेरी कविता किसी वाद, दल या फैशन की अनुवर्तिनी नहीं है। वह मेरी अनुभूतियां और उनसे उत्पन्न मान्यताओं पर जीवित है। मैंने अपनी कविता और अपनी जिंदगी के बीच कोई दीवार नहीं खींची, कोई परदा नहीं रक्खा। अपना जीवन जीते जीते मुझे जो कुछ भाव राशि मिली है, उसी को मैंने अपनी कविता में लिपिबद्ध किया है। और क्योंकि मेरा जीवन अपने समाज के जीवन से प्रभावित होता रहता है, इसलिए मेरी कविता में भी वे प्रभाव झलकते रहे हैं, पर एक तो वे प्रभाव उसी रूप में और उतने ही अंश तक आए हैं, जिस रूप में जिस अंश तक वे मेरे मन को ग्राह्य हुए हैं, दूसरे वे मेरे लिए जड़ बन्धन नहीं बन सके हैं। ज्यों ही मेरे अनुभव उनको पार कर सके हैं, त्यों ही मेरी कविता में भी परिवर्तन आ गया है। शुरू में आस-पास के वातावरण से और तत्कालीन काव्य रचना से प्रभावित होकर, मैंने भी प्रणय-गीत लिखे हैं (छवि के बन्धन) और बाद में परिस्थितियों के अनुकूल सामाजिक चेतना से प्रभावित होकर संघर्ष की कविताएँ भी (जागते रहो!)। पर सामाजिक चेतना की वह धारा जब धीरे धीरे संकुचित, अस्वस्थ राजनीतिक प्रचार माध्यम का रूप लेने लगी, और जब छायावादी आदर्शवाद के स्थान पर एक दूसरे प्रकार की स्वप्नशील आदर्शवादिता को जन्म दिया जाने लगा, तो मेरे कवि को उसमें सचाई के दर्शन न हो सके, और उन सात कवियों में (तारसप्तक) मैं भी एक था, जिन्होंने सिद्धान्तवाद के स्थान पर स्वयं जीवन में सत्यान्वेषण का

व्रत लिया था। आगे चलकर जब इन सात सत्यान्वेषियो में से एक ने तत्कालीन परिस्थितियो का और प्रतिश्रुत आलोचको की मूखता का लाभ उठाकर व्यक्तिवादी अहम्मन्यता की प्रतिष्ठा के हेतु अद्ध-सत्यो पर आधारित एक नए निकाय की स्थापना कर भक्तों की सेना इक्टठी करनी चाही, तब मुझे उनसे भी अलग होकर 'मुक्ति माग' की खोज जारी रखना जरूरी हो गया। मेरी वह खोज आज भी चल रही ह। 'ओ अप्रस्तुत मन!' उसी खोज का प्रमाण ह, माग की उपलब्धि का नहीं।

माग की उपलब्धि म अभी तक नहा कर सका, इसकी मुझे कोई लज्जा नहीं ह। हमारी आखो के सामने, हमारे देखते-देखते हमारा जीवन इस तेजी से बदल रहा ह, उसकी समस्याएँ इतनी शीघ्रता से परिवर्तित हो रही ह कि कल का निश्चय आज सन्देह का विषय बन जाता है, और कल का माग आज भूलभुलया लगने लगता है। इसलिए आज की सच्ची कविता निषेध की ही कविता ह। 'यह भी पथ नहीं ह', 'यह भी पथ नहीं ह', 'यह भी नहीं'—आज का कवि इतना ही कह सकता ह। 'कौन-सा पथ ह' यह बताने की स्थिति में वह नहा ह। जो आखें मूदे निश्चित मन से तय किए हुए माग पर चले जा रहे ह वे वाद ग्रस्त और भ्रम-बद्ध है, मजिल उन्हें मिलने वाली नहीं ह। 'सच्चा सन्देह' आज 'अधे विश्वास' से बडा ह। और जो लोग कवि से हर प्रश्न के समाधान की माग करते ह, वे बदली हुई परिस्थितियो में कवि के 'रोल' को समझने से इन्कार करते है। छायावादी काल में एक भ्रम उत्पन्न किया गया था कि कवि द्रष्टा होता ह, पर यह सच नहीं ह। कवि की दृष्टि मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओ तक पहुँच जाती ह, इस अथ में तो वह द्रष्टा जरूर ह, पर आज मनुष्य के सामने जो विकट समस्याएँ ह, वे कल क्या रूप लेंगी, और मनुष्य को उनका हल किस प्रकार करना चाहिए, यह वह नहीं बता सकता। आज के पीडा भरे प्रहर को वह अपनी सहानुभूति ही दे सकता ह, और देश-देशान्तरो को अपनी लपेट में बाधकर, जो अदृश्य अग्नि-शृखला हमें तिल तिलकर जला रही ह, उसके दहन को वह स्वर दे सकता ह, पर वह ज्योतिषी नहीं ह।

और क्या यह दुख की बात ह कि वह ज्योतिषी नहीं ह? आज के दद और अभाव को हम भविष्य के कल्पित रग भरे चित्रो से बहलाने का प्रयत्न करें, तो क्या हम सच्चे कवि कहलाएगे? क्या आज के सच्चे कवि का यही एकमात्र धम नहीं

है कि वह आज के व्यथित क्षणों को अपनी सहानुभूति का स्वर दे, और भीमकाया सामूहिक राजनीतिक शक्तियों के लौह चरणों के नीचे खण्डित होती व्यक्ति-चेतना की कराह आपके कानों तक लाए ? कला व्यक्तिवादी नहीं होती, यह तो अब सभी मानते हैं, पर कला व्यक्ति के प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होती, इसको मान्यता मिलनी अभी बाकी है। मेरी कविताओं में मेरा सुख-दुख, मेरा घुटन चीत्कार, मेरा दर्प अपमान है, इससे क्या मैं इन्कार कर सकता हूँ ? पर यदि मैं यह सोचता कि ये सब केवल मेरे, नितान्त मेरे हैं, और इनमें आपके मन की कोई झलक नहीं है, तो आप विश्वास करें, इनके प्रकाशन का साहस मुझमें नहीं था। संकोच और हिचकिचाहट के साथ ही सही, इन रचनाओं को जो मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ तो सिर्फ इसी बल पर कि ये आज के मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन-जीवन की सचाई को लिपिबद्ध करती हैं। उसके सपने, उसकी आकांक्षाएँ, उसकी विवशताएँ और उसकी असमर्थताएँ अपने सीधे-सच्चे रूप में इनमें उपस्थित हैं। मैंने उन्हें थोथे आदर्शों की कोई बैसाखी नहीं सौंपी है, न उन्हें कल्पना के पंखों पर पलायन करने दिया है। यदि इन्हें पढ़कर आपको निराशा हो तो आप मध्यवर्गीय मन को आशान्वित करने की ओर प्रवृत्त हों, यदि उसके अधूरे, अपर्याप्त जीवन पर आपके मन में सहानुभूति उत्पन्न हो, तो आप उसके विकास के पथ को प्रशस्त करने की ओर प्रवृत्त हों, और यदि उसके क्षुद्र, ओछे जीवन से आपके मन में वितृष्णा का उदय हो, तो आप व्यक्ति की सही प्रतिष्ठा की ओर प्रवृत्त हों, यही निवेदन है।

—भारतभूषण अग्रवाल

अनुक्रम



ओ अप्रस्तुत मन !

बीज तू—तू मूल-भव !

प्यार से सींचूँ तुझे ओ बीज मेरे !
एक दिन तू ही बनेगा फूल
एक दिन गुण गान गाएँगे सभी ये भ्रमर तेरे
आ जुटेंगे सभी तेरे कूल

इसलिए आयास
क्योंकि होगा व्यक्त तू ही हास, मधुर विकास में !
इसलिए आयास
क्योंकि आलिंगन बनेगा एक दिन तू ही अनिल के पाश में

देख मत तू आज तेरी सेज मृण्मय है
देख मत तू अमर - दल किस ओर तन्मय है
सोच मत तू तुझे आता है न वैसा हास
ध्यान कर तेरी अभी कितनी नवल वय है !

सतत चेष्टा,
सतत मुक्ति प्रयास, चिर - उद्योग
—फूटने का, विकसने का पर्व—यह संयोग !

हास, फुल्लोल्लास—पाएगा सभी, तू समय आने दे
आज मिट्टी में तुझे मुझको बिछाने दे
जल बहाने दे !

बीज तू, तू मूल भर ! तू ही अरे ! है वह्नि विह्वा कान्ति
सुप्त तू, तुझमें प्रसुप्ता अनुगता भू - कान्ति !



तू उड न दूर !

उन्मुक्त द्वार, पख में शक्ति भरपूर
फिर भी ओ मेरे विहंग ! तू उड न दूर
तू उड न दूर यह कचन की कारा बिसार
उस नभ से भी बढकर है मेरा प्रबल प्यार
उस नभ से भी जो फैला है सब ओर तना
तेरे महान जीवनादर्श का रूप बना,
उस नभ से भी जिसके रगों का आवाहन
है जगा रहा तेरे प्राणों में यह कम्पन
मुक्ति के लिए, जिसके अछोर नीलिमा - स्रोत
में मिल जाने के लिए विकल तू, ओत प्रोत !

उन्मुक्त द्वार, मेरे विहग ! पर उड न हाय !
मत कर कचन को अर्थ हीन, यों निस्सहाय

बादल, बिजली, चंदा, सूरज, तारे—अनेक
हैं नभ के, पर मेरा है तू ही मात्र एक!!



निर्मल तुम्हारा रूप

ज्यों गगन में जग उठा कोई नया तारा
ज्यों हृदय में फूट, फैली सरस कोई नई जल-धारा
वेग में अपने डुबोती युगों के मरु का किनारा
प्राण ! यह नव रूप,
पावक सा अखण्ड, सतेज, यह निर्मल तुम्हारा रूप
नमित म
जैसे कि मेरे शीश पर छाई प्रकम्पित पलों म
नभ की सलोनी धूप !

●

अन्तर्मुक्ति

कल के पत्तों से
मन पर आशाओं, अभिलाषाओं के य पर्त—
पर्त पर पर्त
व्यूह से
कारा से
चट्टानों से,
अति अनुल्लघ्य, अनिभेद्य, अगम !
बन्दी मन की ये जंजीरें
जब झन झन कर बज उठती हैं
भावानिल में
अथवा अभाव की आंधी में,
लगता है तब,

सोन-रूपे के आंसू में मन रोता है !
सन्ध्या की बुझती वेला में
चांदनी रात के शेष प्रहर में
जीवन के संघर्षों से हो क्षुब्ध,
क्लान्त मन, लगता है, पाता विराम !

कैसा छल है, कैसा दुराव !
वंचन का, आत्मवंचना का कैसा मरु सा विस्तृत प्रसार !

मुक्ति के सूरमा !
ध्यान रहे
जन भी बन्दी है, मन भी है !



परिधि और केन्द्र

यह नहीं होगा कि मरा प्यार मुरझा जाय
यह नहीं होगा कि मेरा व्यक्ति ही खो जाय
और यह भी तो नहीं हो पायगा सभव
परिधि सिमटे औ' सिमट कर केन्द्र में सो जाय !



हृदय की गुहा

सूनी, अँधेरी यह हृदय की गुहा—
बन्द,
चारों ओर चट्टानें उठीं, सस्कार सी !
भाव मन के कुलबुलाते जोंक
ज्योति - और - वात हीन क्षुद्र परिधि में
रेंगते, ज्यों गिलगिले, अन्धे, मिट्टीखोर केंचुए !
धूप का न नाम है
न नाम हरियाली का !
दुर्गन्ध कड़वी और तीखी—सडी प्याज सी !
आकाङ्क्षाओं के छाया - प्रेत
न-कुछ में बनते और मिटते
भयकर

अन्ययार्थ
स्वार्थ, स्वार्थ !



धूल भरी आँधी

रूखी, तपी, जलती हुई दोपहर के बाद
यह धूल भरी आंधी!
सब कुछ पर रेत जमी, मन तक ज्यों किसकिसा रहा है!

नरगे, गरम दिन—छटपटाती रातें
पूछता हूं रह-रह कर, किससे, क्या जानूँ

'ओ रे! बता मुझको
यह सब है किसलिए, क्या है इसका निदान?
कब होगा अंत इस जड़ता का, द्विधा का?
कब तक यों और तपूँ—

कब तक?
कब आएगी वह वर्षा की एक बूंद, स्नेह की एक कनी
अगली हरियाली की प्रतीक बनी?'

उत्तर में किन्तु वस सिर पर यह आसमान—
मटमैला, रेतीला,
और यह दरवाजे फटफटाती आँधी!



यह पीर नई !

भाषा अशक्त, भावों को व्यक्त न कर पाई
वाणी कायर, ओठों पर आकर लौट गई
मैं चाह रहा हूँ, किंतु न कह पाता कुछ भी
यह अनुभव बिलकुल नया, प्राण ! यह पीर नई !

चुनौती

खोल सीना, बाँधकर मुट्ठी कर्रा
मैं खड़ा ललकारता हू
ओ नियति !
तू सुन रही है ?
मैं खडा तुझको यहाँ ललकारता हूँ !

हाँ, वही म
जो कि कल तक कर रहा था चरण में तेरे निवेदित
फूल पूजा के
करुण आँखों को भिगोकर
काँपती उँगलियों की अजलि सजोकर !

हाँ, वही मैं
जो कि कल तक कह रहा था

तुम्हीं हो सर्वस्व मेरी
और यह जीवन तुम्हारी कृपा - करुणा का भिखारी,
दान दो सञ्जीवनी का, या गरल दो मृत्यु का स्वीकार है।
विनत शिर, स्वर मन्द, कम्पित ओष्ठ!

हां, वही मैं
आज खोले वक्ष, उन्नत शीश, रक्तिम नेत्र
तुझको दे रहा हूँ, ले, चुनौती
गगनभेदी घोष में
दृढ बाहुदण्डों को उठाए!

क्योंकि मैंने आज पाया है स्वयं का ज्ञान
क्योंकि मैं पहचान पाया हूँ कि मैं हूँ मुक्त, बंधनहीन
और तू है मात्र भ्रम, मन-जात, मिथ्या रचना,
इसलिए इस ज्ञान के आलोक के पल में
मिल गया है आज मुझ को सत्य का आभास
और ओ मेरी नियति!
मैं छोड़कर पूजा
—क्योंकि पूजा है पराजय का विनत स्वीकार—
बांध कर मुट्ठी तुझे ललकारता हूँ,
सुन रही है तू?
मैं खड़ा तुझको यहाँ ललकारता हूँ!



बनता तभी प्रपात है !

अपना ही मन खो बैठे जब, औरों की क्या बात है
सह ले पगले ! चुप हो सह ले, आया जो आघात है

दुनिया बहुत बड़ी है,
जीवन का भी है विस्तार बड़ा
तू किस भ्रम में युगों युगों से
इस सराय के द्वार खड़ा ?

चलता फिरता दिन है मूरख ! चलती फिरती रात है !

गहराई को कौन पूछता
गहरा तो है कूप भी
पर न पहुँचता वहाँ समीरन
नहीं पहुँचती धूप भी

जीत उसी की, जो लहरों का देता रहता साथ है !

बादल का क्या दोष
फोड़ यदि सका न यह चट्टान तू ?
पानी तो पानी है, मत कर
यों अपना अपमान तू !

कल्प कल्प का धैर्य जुटे जब, बनता तभी प्रपात है !
सह ले पगले ! चुप हो सह ले, आया जो आघात है !



दो सत्य

सत्य है रवि, सत्य रवि की दीप्त किरणें भी
पर मनोहर बादलों की श्यामली माया
सत्य है व्यवधान - अन्तर, सत्य तुम, मैं भी
किन्तु फिर भी यह निलय का भाव घिर आया

क्योंकि दोनों सत्य हैं तम भी, उजेला भी
मैं तुम्हारे साथ भी हूँ प्रिय! अकेला भी!



धुंधली रेख

और ज्यों ज्यों बीतते हैं दिवस जीवन के
बंध ढीले हो चले हैं प्राण के, तन के
दूर, धुंधली रेख-सा वह दीखता क्या है?
चरण में उत्तर नहीं इस प्रश्न का मन के।



भार मत बनो !

प्यार मेरे, भार मत बनो !

राह है यह चाह रुकने की यहाँ वर्जित
कामना विश्राम की, गति - चरण में अर्पित
पथिक के उपहार ओ ! पथ - हार मत बनो !
राह है यह एक मन चल ही यहाँ सम्बल
मत बटोरो स्वप्न रे ! मत बिखेरो दृग्जल
मुक्ति - खोजी ! मुक्ति का व्यापार मत बनो !
राह है यह यष्टि ही बस है तुम्हारी टेक
ठोकरों पर मत लुटाओ व्यर्थ भावोद्रेक
सार हो तो मोह का मसार मत बनो !

भार मत बनो !

प्यार मेरे, भार मत बना !

तुम धरा हो !

तुम धरा हो
झील, पर्वत, नद, विटप, मैदान, मरु में लुप्त—डूबीं !
और मैं आकाश हूँ
बादलों से भरा, फिर भी शून्य—अम्बर !!

o

समय रुक जा !

समय रुक जा, स्तब्ध हो जा रे समीर !
मिल रहे युग - तत्त्व मोहित क्षितिज चीर
सिन्धु में पगली तरगों ने लिखा
नभ झुका भूमिल भुजाओं पर अधीर !

वेदना लौ बन चली, छाया प्रकाश
कट रहे है, कट रहे हें तिमिर - पाश
कान्त सरिता उतर पहुँची अतल में
अस्थियों को अब मिलेगा मुक्ति हास

छोड़ अर्जुन ! तीर, फूटे अमृत धार
तुष्ट हो यह भीष्म, विशिखासीन प्यार !



झंझावात आता है

झंझावात आता है
प्रलय के मेघ लाता है
अंधेरा घुप्प चारों ओर
घन-घन छा रहा घनघोर

कड़क से दहल जाएगी
अभी आकाश की छाती
बड़ी बौछार आएगी
कि धरती डूब जाएगी

समन्दर में समाएँगे किनारे टूट कर सारे
नहीं फिर टिमटिमाएँगे
दमी उपचेतना के ये मरण व्याकुल मलिन तारे
समय की धुकधुकी अब बन्द होगी

अब होंगी ज्ञान की आखें
यही पल है
यही है वह चरम क्षण
लो
सृजन के अंत में बढकर पसारी हैं निकल बाहें !

अंतरवासिनी मेरी अरी शम्भे !
न देखो नैन कारा से
कि झंझावात आता है
धरा के वक्ष पर उभरे उरोजों से पहाड़ों को
मसलता कड़कड़ाता है
कि रोमों से खड़े तरु-वृन्द को झकझोरता
वह चीर जाता है
कि झरनों की,
कि नदियों की
शिराओं-उपशिराओं में
लहू की तप्त लपटों सा
प्रखर, उद्दण्ड ज्वाला के विशिख सा सनसनाता है !

न देखो नैन-कोरों से
कि अब भूकम्प आएगा
गगन के तड़ित-कम्पित वक्ष में पृथ्वी समाएगी
कि तम की इन भुजाओं में किरण यह डर जाएगी
कि छूटेगी लपट, ज्वालामुखी अब फूट निकलेगा
सृजन के अंत के पल में

प्रलय के जोश में मदहोश
बर्बर, मूल, आदिम, शक्ति तत्त्वों म ठना संघर्ष
यह दुर्द्धर्ष !

न देखो नैन कोरों से
अनावृत सत्य का तूफान आता है
तरगा के चरण थामे गगन की देह ढलती है
तडित की पसलियों म पिस धरित्री टूट गलती है
दिशा के पलक सागर म भुजगा से तड़पते हे
कि तम के दैत्य न निगली
सृजन के अन्त के पल में
फुर्ती आलोक - मालाएँ !

न देखो नयन - कोरों से,
गिरा दो पलक का परदा
कि मूँदो कान
हो सुनसान
दरवाजे करो सब बन्द
सपनों की अटारी के
कि बाहर गरजता तूफान आता है !
मिटा दो चेतना जग की
कि ढाल छोड दो तन - मन
झुका दो शीश
मस्तक गाड दो
चुपचाप

ओ शम्मे !
कि यह पल
बीत
जाने
दो !



बोल ओ बन्दी !

बरसते बादल, सरसती वायु, पल तन्मय
बोल रे ! कुछ खोल गाँठें, बाँट कुछ सचय
बाँट रे ! जग माँगता है आज रस की भीख
भरे दिल ओ ! भरे बादल से किया यह सीख

सीख अन्तर की विकल घुमड़न बने रसदान
तप्त भावोच्छ्वास झुक भेंटे धरा के प्राण
लघु हृदय की लहर छू ले फैल नभ के छोर
सफल हो यह साध कण-कण को अमृत में बोर

बोल ओ बन्दी हृदय की ग्रथियों के ! बोल !!
ढाल जीवन, धरा उत्सुक है अधर-पुट खोल
तड़ित-कम्पन-तेज में बीते न अन्तर्शक्ति
शून्य में ही चुक न जाए सिंधु की आसक्ति

दभ है यह उच्चता, रे ! रिक्त है यह धूम
उतर भू पर, प्रणय की हरियालियों को चूम
आज छा ले सृष्टि को तू सजल भार उतार
कामना हो फलवती, हो फूल का संसार
मुक्त हो तू, महत् हो तू, ज्यों अमित आकाश
छोड़ यह संकोच, मन रे ! तोड़ मिति के पाश



रात, सपने और दीवार

रात की काली घड़ी में शीश मेरा
अचानक
दीवार से टकरा गया !

रात थी वह बरसती, गहरी, कँपाती
शीश था सपना-भरा
और वह दीवार
पक्की, ठोस
जिसकी नींव पृथ्वी में समाई थी अतल तक !

एक पल को खो गया मन का नियन्त्रण
और उस पल में
अचानक
शीश यह दीवार से टकरा गया !

स्विच दबाया
कक्ष में फैला अशेष प्रकाश,
हेर देखा
दाग था दीवार पर मेरे रुधिर का।



नव-मेघ

रो रहा है आज सारा लोक बनकर यक्ष
शापित, त्रस्त, निर्वासित
कौन बनकर दूत पहुँचाए सँदेशा
शान्ति की अलकापुरी को ?

एक ही था मेघ अब वह है कहाँ ?
एक ही था वह महाकवि सो गया !

आज का यह यक्ष पर निर्भर नहीं है
उठ रही है उमड़ती वह ऊर्ध्वगामी गूँज
गूँज जो होगी न केवल दूतिका
वह चुनौती भी बनेगी
शाप को
शाप सत्ता को !



३

मेघ और बिजली

रात भर रोता रहा है मेघ नभ में
नीर झर
और सारी रात तड़पी है तड़ित भी
नींद आई नहीं पल भर।

निकल, बिखरी बाँह के लघु-पाश में
बाँध बिजली को कहा यों मेघ ने
'सोख लो यह नीर
मुझको मुक्ति दो,
समा जाओ प्राण के आकाश में,
ठहर जाओ
आज की हो रात सुख की नींद,
फिर जगूँ मैं कल सवेरे

तप्त, निर्मम भाव से सन्नद्ध !'

तड़ित पर ठहरी कहाँ !
चंचला वह छूट भागी
तड़पती ही रही सारी रात,
नींद आई नहीं
और—
रात भर रोता रहा है मेघ !



ओ अप्रस्तुत मन !

गमन के क्षण
अब रुको मत ओ अप्रस्तुत मन !
चल दो—

राह में लगी है आग
चलना है खेल नहीं
पर क्या सकोगे भाग
कर्म से बचोगे कहीं ?
बच्चों की भाँति यों मचलो मत भीरु मन !
चल दो
कि आ पहुँचा है चलने का क्षण !
चल दो—
क्षुद्र इस जी की यह कमजोरी कुचल दो !

दौड़ती इस धड़कन से पैरों में बल दो !
रुको मत, चल दो !

प्रात उठ देखा था
हवा के झँकझोरे से
पेड़ के पत्ते टूट

बिखर गए आँगन में
शाम तक पीले भी पड़ गए।

तुम भी अब चल पड़ो
झाड़ कर सुख के क्षण
हवा रुकती नहीं, रुकोगे भला क्यों तुम ?
तुम से ही खिलेंगे दूर एक दिन नए कुसुम
द्रुम से यह मोह क्यों अबूझ मन !
चल दो—
चल दो कि आ पहुँचा है चलने का क्षण !



बहुत बाकी है

शांत हो जा मन ! कि जीना है अभी—
अभी जीवन में अनागत हैं न जाने और कितने ज्वार
जाने और कितने अभावित, अति अकल्पित संघर्ष
कितनी व्यथा, कितना हर्ष !

छूट जाएँ साथ के संगी पुराने—
अरे ! धुँधली भले ही पड जाय
तेरे इन रुआँसे लोचनों में
यह कँटीली राह ,
और इतना ही नहीं ,
अचरज नहीं जो कुछ क्षणों को
हृदय का अति यत्न से संचित, सघा उत्साह
भी सो जाय

हो जाय विवश, बेकार
किन्तु मन मेरे ! न भूल
अभी पथ का नहीं आया कूल
अभी यात्रा का नहीं है अन्त
इस विषम संघर्ष में तू अभी भी हारा नहीं है !

व्यर्थ शंकाएँ न कर
व्यर्थ की दुष्कल्पनाओं से न हो कातर
शान्त हो जा,
अभी जीवन में बहुत कुछ है अनागत
बहुत बाकी है !



सहज स्वीकार

भूल मेरी थी
इसी से कर रहा हूँ, लो, सहज स्वीकार
इसमें लाज काहे की!

पर हँसो मत यों भरे विद्रूप!

इस क्षणिक जय में न भूलो शक्ति मेरी
जो अभी तक साथ है,
शक्ति है तो पैर सीधे भी पड़ेंगे एक दिन
और उस दिन कहीं पछताना न पड़ जाए तुम्हें
सोचो जरा!

भूल का स्वीकार मुझको है सहज
क्योंकि मैं अब भी अडिग हूँ
क्योंकि अब भी आत्मबल हारा नहीं हूँ

दृष्टि मेरी सधी है अब भी भविष्योन्मुख।

स्वप्न मेरे थे असम्भव भूल थी यह—मानता हूँ
किन्तु मत भूलो कि यद्यपि स्वप्न मेरे थे
मैं नहीं था स्वप्न का।

●

न्याय की बाँहें

[illegible]
कि अब तू हो गया है पागल !

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

उसके निकट है व्यक्ति का क्या मूल्य?
तेरी याचना बेकार है!

न्याय की ये बढ़ रही बाहें कठोर
प्रस्तुत हो!



लौट जाओ चाँदनी की रात

लौट जाओ चांदनी की रात !
मुझसे दूर हो ।

एक युग से मैं विरस जीवन बिताता आ रहा हूँ
सब तरफ लगता बड़ा सुनसान
कोई शब्द तक आता नहीं है ।
गहन तम का पर्त मन पर छा गया है
और नीचे है सभी निस्पन्द , जड
मानो किसी गहरे अँधेरे गर्त में
मैं वेग से गिरता चला ही जा रहा हूँ—
यह अधोगति तीव्र है , पर एकदम निश्चेष्ट !

चादनी की रात !
मन के इस तिमिर को तुम बढ़ाओ मत !

हटाओ वक्ष से यह मृदुल हलका हाथ
परस भी मुझको तुम्हारा आज वर्जित है !

चन्द्रलोक निवासिनी ! नभ की परी !
गहन अन्तर से तुम्हारा योग ही क्या ?
तुम भला क्या मुक्ति दोगी
तुम पराई हो !
तुम्हारा दान बिलकुल व्यर्थ है !
लौट जाओ--
मुझे तरु की छाँह में ही शान्ति पाने दो !



दबा हुआ शहर

खोदो, खोदो, खोदो !
मिट्टी के, कंकड़-पत्थर के इन ढेरों के भीतर
अतल अँधेरे में
डूबे दिल-सा ही बैठा
शान्त नगर प्राचीन
लुप्त, गुप्त, ओझल, मलीन—
सम्पूर्ण किंतु,
अब भी रक्खे है अपना वह अविकल स्वरूप
सौध औ' स्तूप
अब भी गर्वोन्नत तने हुए उसके देवालय के गुम्बद
अब भी भवनों, गृह, शालाओं के स्तंभ दम्भ से डटे हुए
केवल सब पर

उसके अपने कण कण के तन पर
छाई है यह काल-रेत,
केवल उसके सब कुछ पर यह मीलों-मोटी मिट्टी जमकर
आ बैठी है
नियति यान की चक्र धूलि उसको घेरे है।

वह अग्निमुखी है धन्य
कि जिसकी बर्बर आदिम शक्ति फोड व्यवधानों को
वसुधा की छाती फाड
प्रकट करती है अपना नग्न रूप
छा लेती है निस्सीम धरा को अपने कुत्सित घृणित
सत्य के ज्वारों से,

किन्तु वह विध्वंसक है,
अन्धा है,
वह है विराट नाश का पुत्र
जिसकी ज्वाला का स्पर्श बड़ा ही निर्मम है,
है दुर्निवार,
जिसके आगे सारी संस्कृति,
सारी संचयिता,
हो जाती है क्षार
व्यर्थ का पुंज,
चाल।
उसका किरीट है लपटों का
जो मिट जाती हैं

सदियों तक भी किन्तु तेज जिनका
रखता है उष्ण भूमि के जीवन को
लेकिन जो मिट जाती ही हैं।

यह नगर किन्तु मिट नहीं सका।
संस्कृति का कवच पहन कर इसने जीत लिया
नश्वरता को !
अब भी इसके मूर्छित तन में नित रुधिर दौड़ता रहता है,
अब भी इसके बैठे दिल की साँसों का तार नहीं टूटा,
यद्यपि अब इसमें नहीं शक्ति
जो उठे ऊर्ध्वमुख, हो अशान्त
पर फिर भी है बेचैन अतल की शैया पर,
जीवन की गति से छिन्न भिन्न होकर भी
जीवन की गति में
मिल जाने का अभिलाषी है।
वह मूलों का रस नहीं
हँसी फूलों की बनने का इच्छुक
पर वह अशक्त
उसको अवलम्ब अपेक्षित है।
युग युग से अपनी धुँधली आँखें फाड़
धड़कते जी से कम्पित अन्तर से
वह देख रहा है राह
कि जीवन की बाहें अब झुकें, बढ़ें,
लें पाणि ग्रहण करके उबार !

ऊपर
जीवन के संघर्षों की गति शील क्रियाओं के
सम्मिलित और सजीव चरण
भागते, दौड़ते,
नव नव विध्वंस और निर्माणों की गर्मी में भरे
अरुक, अडिग,
पल-पल परिवर्धित पावक-सा उत्साह लिये
धन्वा से छूटे हुए बाण के ही समान उद्धत, उन्मुक्त !

नीचे
सदियों के संघर्षों का निष्कर्ष बना
नश्वरता से लड़कर विजयी होने वाली
मानव संस्कृति का सार
हृदय के दिव्य, भव्य संस्कारों का आधार बना
यह नगर शान्त, सम्पूर्ण,
सभ्यता की पूँजी को नव-विकास में लगा डालने
को उत्सुक
भावी जीवन को समृद्ध स्वस्थतर बनाने का प्रण ले,
यह नगर—
दबा पड़ा आकुल, मूर्च्छित !
नव प्रकाश की विकल प्रतीक्षा की पीड़ा को मौन सँभाले
बाट देखता
मनु की इस अति दीर्घ कठिन यात्रा के चरम, परम
जय क्षण में

मेरा हर्ष-नाद भी मिल जाए नव सन्तति के दृढ स्वर में
नव सन्तति
जिस में मेरी मिट्टी की ही शक्ति और गति बोल उठी है !

आओ हो ! भूकम्प वेग से, क्रान्ति शक्ति से
खोदो, खोदो—
ध्वस्त करो इस सदियों मे निश्चेष्ट और निर्जीव नगर को
मुखरित कर दो इसकी दीवारों को नव नव नारों से
इसके चौराहे में हो नवयुग के वीरों का वन्दन !



चुक गया जब नेह

चुक गया जब नेह, बाती जर गई
मत करो चीत्कार
पगले !
शैल की चट्टान सा ही
है डटा यह अंधकार अपार
इसको भेद पाएगा नहीं यह कण्ठ स्वर
पहुँच पाएगी नहीं उस पार
यह तेरी पुकार
व्यर्थ है ललकार
अनुनय व्यर्थ है !

पर न हिम्मत हार,
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप

ढाल उसमें शक्ति अपना
लो उठा !
लौह छैनी की तरह आलोक की किरणें
काट डालेंगी तिमिर को
ज्योति की गापा नहीं नपती कभी व्यवधान से !

मुक्ति का बस है यही पथ एक !



बस, दो क्षण

उन्मुक्त आज मैं, किन्तु दीन आकुल, मलीन
बन्धन विहीन होकर भी कितना उदासीन!
छूटा है पक्षी पिंजर की कारा से, पर
पंखों की वह गति उठी नहीं है अभी उभर
खुल चुकी आँख, लेकिन बाकी है धुँधलापन
बीती बातों को भूल नहीं पाया है मन!

मेरे अनुशासक! दो क्षण मुझको और मिलें
बस, दो क्षण—प्राणों की लौ से सर्वांग खिलें!



आओ बाम !

बीते हैं अनेक दिन तुमको गए हुए
और इस बीच प्रिये ! रितु भी बदल गई ,
दूर हुई शिशिर की शीत कम्प रात हिमधार सी ,
आया और हँसके चला गया बसन्त
सरसों को सरसाता हुआ ,
आया फाग
चारों ओर रंग का उठाता राग
लाल अनुराग की लगाता आग जग में ,
ताम्र पीत गेहूँ अब खेत में पका खडा
हलकी हुई बयार
धीरे धीरे अपने मिलन का, लो, जुडता सरजाम
आ रहा है ग्रीष्म , कान्त , उद्दाम ,



आओ नाम !

आओ अभिराम !!

मेरे जीवन की लौ सी !!



घृणा का 'डोज'

फरमाइए
क्या चाहिए ?
श्रीमानजी हे मन हमारे !
जरा इतना तो बताइए
अब भला क्या और चाहिए ?

पहले कहा था आपने
हो पास में मेरे तनिक पैसा !
वह मिल गया,
फिर कहा
अवकाश भी मिलता रहे, हो काम कुछ ऐसा !
वह भी मिला,
अब आप कहते हैं कि पैसा हो मगर फिर भी न हो

कुछ काम
साधे कहें तो यह कि आखिर आप हैं पूरे नमकहराम !
अब पड गया मालूम
सचमुच आपको बस और कुछ नहीं—
कुछ कष्ट चाहिए ,
तकलीफ चाहिए
संघर्ष चाहिए ,
स्नेह-संवेदन नहीं—
बस आपको कुछ दिन घृणा का 'डोज' चाहिए !

●

कटार की धार

धार है कटार में
तीखी और तेज़
मेरी छाती पर बरसों टिकी रही है जिसकी नोंक
और मैं जीता चला आया हूँ
सन्त्रस्त, भयभीत,
प्रतिक्षण कम्पित, अधीर, निःस्व, असहाय !

और आज ओ कटार !
तेरी इस धार को है मेरा यह आभार
कि अब इन्तजार की घड़ियां सब बीत गईं
हो गया प्रमाणित यह आखिरकार
हृत्कम्प चाहे जितना ही बलवान हो
कवच नहीं है वह !

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

मेरे प्राण रिक्त और छिद्रमय
उनमें कहाँ है रस ;
उनमें कहाँ है स्रोत ?
मैं तो मात्र बाहर के जीवन को सोखकर
फिर उगल देता हूँ
सो भी तब जब कोई आके निचोड़ मुझे !
शक्तिहीन
व्यक्तिहीन
गतिहीन व्यापार
इसमें नहीं है कोई आत्मदान
इसमें नहीं है मेरे अहम् का अवसान
तप और साधना से कोसों दूर
अपनी बनावट से मजबूर
मैं मशीन युग का हूँ मात्र एक छोटा यंत्र ,
योग नहीं ,
हो तो उपयोग भले मेरा हो !



चांदनी मेरा करेगी क्या ?

मैं नहीं हूँ पेड़ का पत्ता कि अपना सिर हिलाऊँ.
चांदनी मेरा करेगी क्या ?
मैं नहीं हूँ तनिक भी कमज़ोर, कोमल
क्योंकि मेरे दिल नहीं है
चांदनी मेरा करेगी क्या ?

पथ का सम्बन्ध राही से नहीं है यह
जो कि प्रेमी-प्रेमिका का हुआ करता है
जिस तरह
उसके किनारे की घनी तरु राजि की छाया
खिलखिलाते मधुर फूलों की सुगन्ध
पक्षिया के गीत
झरने की सुरीली तान

सब बने हैं उसी राही के लिए
उसी के हित में सभी का मान है चरितार्थ
ठीक वैसे
चाँदनी भी है उसी के प्रति गगन का प्यार !

मैं निपट सीमेण्ट का हू पथ
मेरे लिए भी है वही राही
परम हित सम्पूर्ण जीवन का
उसी को माध्यम बना मैं जान सकता हूँ
कि छाया दे रहे हैं पेड
सुशबू दे रहे हैं फूल
थपकी दे रही है चाँदनी !
दे रहे हों, दें, मुझे क्या ?
मैं पड़ा हूँ जड, गड़ा हूँ भूमि में
है बाह्य अन्तर सभी कुछ मेरा कठोर
मेरे हृदय हो तब तो ?
चाँदनी मेरा करेगी क्या !



व्यर्थ की आराधना

कांपता है हिया
लौ भी झुक चली
अब ज़िन्दगी का दिया बुझना चाहता है
ओट आंचल की इसे क्या तुम न दोगी ?

पर,
सवेरा हो गया है
नव उषा का हास पथ को पा गया है
कर रहा दिनकर किरण की भेंट चरणों में
स्वप्न का लोगी सहारा किसलिए इन क्षणों में ?
कब तलक यह व्यर्थ की आराधना होगी !
कह रहा है सूर्य कानों में प्रभाती फूंक दो !
कह रहा है दीप प्राणों में अँधेरा फूँक दो !



सूखती सवेदना

शप्त जग की तप्त धरती पर झुलसते पैर
छटपटाते सब अलग सब समझते है गैर
सूखती सवेदना पोखर सरीखी बद
प्यार के जल से यहाँ पर पनपता है बैर।

●

ऊँट का पक्ष

मेघ भी कवि है कि जो बरसा सदा जलधार
तृपित धरती को दिया करता अमित उपहार
और कवि है ऊँट भी जो पेट में जल धार
तप्त रेगिस्तान को करता हमेशा पार।



नाग, बीन और मदारी

' नाग देखोगी, लहरता नाग ?
मोहिनी ओ बीन री ! क्यों छेड़तीं यह राग
कब तलक सोता रहेगा नाग !
यद्यपि
जाग कर भी क्या करेगा वह
विष के दाँत अपने खो चुका है जो !

नहीं जंगल है, पिटारी है
जिन्दगी भी मौत की ही भाँति भारी है
दूर नभ अब लुप्त है, आकाश ढक्कन है
बन्द झोली में लिए जाता मदारी है !

जीवन खोखली फुफकार है
चल रहा हूँ मैं पराई पीठ पर, धिक्कार है !

पड़ा सोने दो
अपनी कैद की इन दुसह घड़ियों में
मुझे खुल, फूट रोने दो,
जगाओ मत,
राग, मोहन राग अपना तुम सुनाओ मत !'
नाग ने मन में कहा था,
बीन लेकिन भाप कर बोली
'अभी पल भर में मदारी खोलकर झोली
निकालेगा तुम्हें
भीड के आगे तमाशा - सा बनाकर
नचा डालेगा तुम्हें,
वही होगा सही अवसर भाग जाने का
जगलों की मुक्त मीठी सास पाने का,
साथियों में पहुँच कर सन्देश यह देना
"बीन के स्वर में पराई फूँक है !
जिस मदारी ने तुम्हारे दाँत तोड़े हैं
उसी के दृढ, सरत हाथों में बँधी
मैं बोलती हूँ बस उसी की बात !
इसलिए
मेरे स्वरों से वे खिंचे आएँ नहीं,
राग के सौन्दर्य पर सुध भूल, बंध जाएँ नहीं,
विषमता की चरमता है यह
कि मैं अपने स्वरों की सफलता पर दुखी होती हूँ !"'

शक्ति जिसकी व्यर्थ है वह नाग
राग जिसका व्यर्थ है वह बीन
दोनों उपकरण हैं व्यर्थता के उस तमाशे के
जो मदारी के लिए आजीविका है ,
लाभ है !



गरम जल की धार

कभी बचपन में सुनी थी एक सागर की कथा
जिसके गहन, गंभीर अंतर में निरन्तर
गरम जल की धार होती है प्रवाहित
और जिसकी उष्णता से
पार्श्ववर्ती तीर की जलवायु रहती है गरम।
तब प्रकृति का खेल इस को मानकर
मुझ को हुआ था बहुत विस्मय,
पर परेशानी नहीं।

आज मैंने जान पाया है
तुम्हारा हृदय भी है उसी सागर की तरह गंभीर, द्रवित
सहज जिसकी उष्णता से
शीत मेरा मन अजाने तप रहा है।

और इसको जानकर फिर हो रहा है बहुत विस्मय
किन्तु विस्मय से बड़ी है आज इस मन की व्यथा !



प्यार के साथी ! सच मानो

मेरे यौवन के युग में यह जीवन निखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो
दुख से घुलकर अन्तर का सब पानी उतर गया
सार के साथी ! सच मानो

अधूरी, चूर हुई जो साध
बात है अब उनकी बेकार
कामनाओं का सिन्धु अपार
सूख कर दलदल बना अपार

ओठ पर चिपके सुरा के गीत
पपडियों बनकर अति दयनीय
गए सपनों के पल भी बीत
नहीं कुछ भी बाकी कमनीय

श्वास - चक्र चलते हैं, मन का रथ पर ठहर गया
भार के साथी ! सच मानो
मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो

राज़ की घटना है यह बात
नहीं होता है जो अनपेक्ष
किन्तु जो चाहा है दिन - रात
नहीं होने पाता वह एक

समय की गति पर मेरा जोर
नहीं है यह था मुझको ज्ञान
समय की गति भी मुझको ज्ञात
नहीं है, अब पाया हूँ जान

लहर लहर का ढग देखकर म भी लहर गया
धार के साथी ! सच मानो
मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो

क्रान्ति के युग में पाकर होश
क्रान्ति की गति से होकर दूर
नहीं है सभव कोई जोश
इसी से हूँ मैं भी मजबूर
किन्तु मजबूरी का यह शोर
बराबर होता जाता व्यर्थ

एक दुनिया मिटती इस ओर
दूसरी बनने में असमर्थ

अगति और असफलता का यह अनुभव मिला नया
हार के साथी ! सच मानो
मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो !



पथ की खोज

'बढ़े चलो, बढ़े चलो!'—मगर बढ़ें तो हम कहाँ?
कि रास्ता ही जब नहीं तो डाल दें कदम कहाँ?
हमें प्रयाण के लिए न व्याख्यान चाहिए
पड़े हैं अंध कूप में हमें उठान चाहिए!



मरण संगियों का गीत

नहीं किसी से माँगी भीख
नहीं भूख से निकली चीख
जिए शान्ति से, जब तक जिया गया
बन न सके साथी जन पथ के
छाती के ऊपर युग - रथ के
पहिए फिरे, और संग में वह सिया गया !

हम 'कल्चर' के हामी थे
लेकिन कपड़े दामी थे
बेचा मन, फिर भी तन ढाँक न पाए
छोड़ न पाए शर्म - हया
जब जुलूस द्वार से गया
हम खिड़की से भी तो झाँक न पाए !

प्राणों में था अमित प्रकाश
मिल न सका लेकिन अवकाश
एक किरण भी बाँट न पाए हाय!
क्षितिज पार का था आह्वान
अटके पर दफ्तर में प्राण
आयु कट गई पीते - पीते चाय!

नहीं कभी भूले संघर्ष
करते रहे, विचार - विमर्ष
प्रबल तर्क थे दोनों के, हम क्या करते!
कभी न हो पाया निर्णय
होगी किसकी अंतिम जय
भूल न कर बैठे हम सदा रहे डरते!



चलते रहो !

स्वप्न मत गढो
काव्य मत पढो
मतलब मे मतलब मानो मेरे भाई !

यह है ज़मीन
यह है मशीन
इनका उसूल पहचानो मेरे भाई !

सपने हैं थोथे
मिथ्या हैं पोथे
डूबेगा इनमें जो खाएगा गोते

चलती ज़मीन
चलती मशीन
अपनी जगह से हिलती कभी न !

दिन हो या रात
सपनों का साथ
कविता का पाठ
मिथ्या जगत में तुम्हें उलझाएगा।

सध्या सकाल
देखो धरती की चाल
या मशीनों की माल
एक दिन तुमको भी चलना आ जाएगा।



दो मुट्ठी चावल

घृणा की पोटली दाबे बगल में
सकुचता, सहमा
तुम्हारे स्नेह की लकुटी बनाकर
जब चला था मैं

तब हृदय में, यदि कहूँ, विश्वास था
तो झूठ होगा
किन्तु इच्छा थी कि हो अंतिम परीक्षा
प्रिय ! तुम्हारे दान, मेरे विनय की !

ठीक है,
तुम ठीक समझे हो तुम्हें यदि याद आया है सुदामा
—पर नहीं, यह ढग है केवल
क्योंकि सच में बात मेरी है, नहीं उस विप्रवर की—

किन्तु फिर भी
क्या सुदामा के स्मरण से
कृष्ण की भी बात तुमको याद आई ?
और यदि, हाँ,
तो भला फिर आज भी क्या रुक्मिणी काँपी नहीं !



ओ बिजली वाले !

युग - युग की प्रतिभा से मधु - सपने संचित कर
फिर उनकी छाया से मुझको यों वंचित कर
ओ बादल - से मीत ! दूर जाने से पहले
क्यों न आज तुमसे मेरा मन इतना कह ले
अपना पानी बादल आप नहीं पीता है
उसके सञ्चय से यह सारा जग जीता है
नमस्कार करता हूँ, जाओ दूर गगन में
पर इसका प्रत्यय फिर भी है मेरे मन में
बादल हो तो धर्म तुम्हारा जल बरसाना
ऊँचे उठ कर तुम्हें सदा नीचे ही आना
आज भले ही छा जाए सब ओर उदासी
मेरी धरती नहीं रहेगी लेकिन प्यासी

गरज - चमक से चाहे जितना तू दहला ले
मेरा ही जल है तुझमें ओ बिजली वाले !



चाँद से कह दो !

मार बिजली की कटारी
मर गए बादल
टपकते खून से धरती नहायी
रँग गया लोहित क्षितिज का आसमान !

और फिर
उनके अमर उत्सर्ग का प्रतिदान बनकर
दीखने लग गई हीरों से जडी वह चाँद की कुर्सी
अचानक भर गया सब शून्य
तारों की रुपहली गद्दियों से
चमक जिनकी डाल जग पर
मोह का रजतावरण
अब करेगी राज सारी रात !

किन्तु केवल रात भर ही।
भोर होते ही जगेगा
बादलों का रक्त लोहित क्षितिज पर
तमतमाकर जो उठेगा किरणधारी सूर्य बन
हर किरण में लिये बिजली की कटारी !

चाँद से कह दो
अगर हो शर्म
तो फिर
उस घड़ी के पूर्व ही
पश्चिम दिशा में डूब जाए !



दर्द का टीका

कह नहीं सकता आज यह बात प्रासंगिक रही कि नहीं
ओ मेरे जीवंत क्षणों की रागिनी !
कि यदि मैं तुम्हें पा जाता तो मैं संसार का सब से सुखी व्यक्ति होत
फिर भी, कम से-कम यह बात प्रासंगिक न भी हो, पर सच है
कि आज जब मैं तुम्हारी झलक से भी दूर हूँ
मैं अपने लड़खडाते लथपथ चरणों से
सारा विश्वास खोकर भी उसी ओर जा रहा हूँ
जिस ओर से तुम्हारी हलकी गूँज मुझे टेरती है
—यद्यपि मेरे मन को टेर लगने वाली वह गूँज
किसी भद्र - समाज में तुम्हारे संगीत प्रदर्शन की गूँज है,
और तुम्हारे छनकर आते मीठे स्वर में
मुझे निमंत्रण लगने वाली पुलक

तुम्हारी आत्मश्लाघा की पुलक है—
फिर भी मैं चलता चला आ रहा हूँ
क्योंकि स्वर और संगीत किसी एक के नहीं होते ,
उनसे मिलने वाली प्रेरणा मुट्ठी में नहीं बँधती ।
और जब तालियों की गड़गड़ाहट में तुम वर्तुल मुस्कान से
खिल उठोगी

तब मैं तुम्हारे प्रकाशित मस्तक पर
अपने अप्रकाशित दर्द का टीका चढ़ा दूँगा !

फिर बताओ क्या होगा ?
मुस्कान तो मंत्र बद्ध नागिन सी फिर बन्द हो जाएगी,
तालियाँ भी रुक जाएँगी
क्योंकि ताली वाले हाथ जाने की जल्दी में होंगे ,
और अपने गले में पड़े फूलहार को भी तुम उतार फेंकोगी
क्योंकि तुम्हें अपने प्राणों पर बोझ पसन्द नहीं है
पर दर्द के उस टीके का तुम क्या करोगी ?
जो एक ही दर्पण में तुम्हें दीख सकेगा
और वह दर्पण
मेरे मन में है !



सूखे की पुकार

सूखे, तपे रेत सा ही चौड़े में पड़ा हुआ
चुनौतीदार धूप से निरन्तर लडा हूँ मैं
रूखे, खिन्न ठूँठ सा कटारीदार लू की चोट
झेलता झुलस गया, फिर भी खड़ा हूँ मैं !
पोखर से प्यासे इन प्राणों की सतह
पहले कीच सी घनाई
फिर जमी, सूखी,
और फिर अंत में
कागज-सी फट गई !
फिर भी डटा ही रहा,
भागा नहीं,
हस सा, बलाक सा

होके उड़न छू
किसी पर्वत की रानी से
ठण्डी हिम-छाँह का सहारा कहीं माँगा नहीं,
माँगा नहीं मैंने कोई कृत्रिम उशीर पट !
खुला ही रहा हूँ नित,
अपनी अनन्त मोहमयी इस माटी पर
बिछा ही रहा हूँ, अरे फैला ही रहा हूँ
और कस के तपा हूँ, खूब डट के तचा हूँ मैं
ओ रे मेरे मेघ रे !
फिर भी बचा हूँ देख, फिर भी बचा हूँ मैं !

तो फिर ओ मेघ ! आज अपनी फुहार से
मेरा दग्ध मन क्या न शीतल करेगा तू ?
धरती के ताप, मेरे तप के प्रमान रे !
खेतों को भरेगा,
ठूँठ रूखों को करेगा हरा,
सिर्फ मेरे अन्तर की दरकी दरारों को
प्लावित किए बिना
फूटी इन पोरों को क्या रीता छोड़ जायगा ?

कृपा नहीं चाहता हूँ,
दान नहीं माँगता हूँ,
मेरा एक भाग
जो है आज तेरे पास

और जिसका हूँ मैं ही एकमात्र सही अधिकारी
वह मुझे ला के दे ?
कजरी की एक मेरी तान
इन मल्हारों की एक मेरी कड़ी कहाँ छोड़ दी
उसको उठा के दे !
आ रे आ ! झूँसे इन अगों पै उतर कर
अपना सलोना श्याम बि दु चीर डाल दे !
खिन्न , छिन्न भिन्न इन प्राणों पर
बांध फिर रस का सेतु ,
मेरी इस दाहिनी भुजा में थमा
अकुर की रग ध्वजा
जीवन का जय केतु !

कबसे तरस रही पथराई आँखें ये
इन्हें गीले काजल की रेख से परस जा !
आ जा रे ! बरस जा !
आ जा रे ! बरस जा !



मौन की चट्टान

तोड़ो मौन की चट्टान
फोड़ो अहम् का व्यवधान
आकुल प्राण के रसगान

भीतर ही न जाएँ मर

बोलो, जोर से बोलो
व्यथा की ग्रंथियाँ खोलो
सँजो लो मन कि फूटें

कण्ठ से फिर गीत के निर्झर !

●

हम नहीं हैं द्वीप

हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर !
भले मिट्टी से हुआ निर्माण ,
किन्तु मिट्टी है परिधि ही
नहीं हैं मिट्टी हमारे प्राण !
सूर्य की दीपित किरण से
नीर के भावुक मिलन की हम विमल सन्तान !

ठीक है , हम आज चारों ओर सीमा से घिरे हैं
किन्तु हममें जी रही गति की असीमित धार
हममें जी रहा है
सिंधु की गहराइयों का
मेघ की ऊँचाइयों का प्यार !

हम प्रसर आलोक, गतिमय भावना के पुत्र हैं
हम नहीं हैं रेत के रूखे, अशुभ अम्बार !

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार।
रुद्ध, सीमित, स्थिर बना जीवन हमारा
हर किनारा बन गया व्यवधान !
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान।
विवश हम अब बह नहीं सकते,
और अपनी ठौर अपने आप ही में बन्द
अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते !

आज भी यद्यपि हमारा है अमित उपयोग
हम अतिथि की प्यास के उपचार,
निकटवर्ती वनस्पति के मीत सवेदन-भरे,
नगर की लघु ज़िन्दगी के मेघ,
गाँव की भोली, सलोनी कामिनी के कलश के वरदान,
मन्द बुझती साँझ में सोपान पर आसीन कवि के आर्द्र
मिलनाह्वान !

पर हमें बेचैन करता यह व्यथा का भाव
कट चुके हम धार से,
गति से हमारा हो चुका अलगाव !

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार।

यह नहीं है शाप अथवा नियति अपनी,
किन्तु यह तो बस समय की बात
क्षणभगुर परिस्थिति !
हम नदी के पुत्र हैं, पाषाण-कारा से घिरे !
दूर उसके क्रोड से, हम दूर उस स्रोतस्विनी से,
तदपि उसके अश, हम वशज उसी के !
हो गए हों हम भले म्रियमाण
पर
समवाय के अभियान में मिल
एक होने के लिए आकुल हमारे प्राण !

तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले !
धार की ही गोद में बैठे विषम व्यवधान,
तो भले ही तुम रहो ऊँचे, महान्
पर कृपा कर यह न सोचो
धार की हर लहर जो आती तुम्हारे पास
ठोकती है वह तुम्हारी पीठ
या तुम्हारी कीर्ति में वह छेड़ती है तान !
वह तो है विकल, बेचैन तुमको लाँघ जाने के लिए
सहज गति अनिरुद्ध पाने के लिए
धारा बढ़ाने के लिए !
और हम यद्यपि नहीं हैं धार
यद्यपि हैं सरोवर मात्र

किंतु यह केवल समय की बात !
लौट कर टुक ग्रीष्म आने दो ,
किरण का हम को तनिक वरदान पाने दो ,
उफन जाने दो !
हम अहम् को भूल
मेट कर अपनी बनावट
तोड़ सीमाएँ सभी
एक दिन फिर से मिलेंगे धार में
समवेत जीवन के अपरिमित ज्वार में !



कार्टूनों का जुलूस

हाँ, हाँ, यह सच है,
ठीक ही सुना है यह तुमने
कि कल रात
दूर, सात सिन्धु पार
अणु का विस्फोट हुआ,
उड़ गईं उद्जन की धज्जियाँ
जिसके धड़ाके की धमक से
क्षीण-काय स्वरधारी नारों का दम टूटा
एक लघु हिचकी ले त्यागे उन्होंने प्राण,

यह लो,
यह देखो
नारों की अर्थियाँ उठाए आ रहा है

वह जुलूस कार्टूनों का—
बासी अखबारों में लपेटे हुए शव को
फूटे गुब्बारों - से जिनके सिर
झूलते हैं कंधों पर ,

कैमरे के लैन्स - सी हैं आखें बुझी हुई,
बिगड़े, कम्बख्त लाउड - स्पीकर से
जिनके मुख निश्शब्द खुले हैं !
रिपटों से ठुकी हुई निश्चल उँगलियाँ हैं ,
दांतेदार पहिए सा दिल घूम जाता है ,
वार्निश से पुते हुए चेहरों पर
' रेडियो एक्टिव ' धूल की पर्तें जमी बैठी है !
टाइपराइटर की ' की ' की तरह
सब के पैर बारी - बारी से उठते हैं ,
और सब एक ही जगह पर पड़ते हैं ,
और फिर लौट कर
तुरन्त बिखर जाते हैं !

सोचो मत व्यर्थ है ।
देखो मत यह है जुलूस कार्टूनों का
नारों की अर्थियों उठाए जा रहा है जो श्मशान को !

हट जाओ ,
रास्ता दो इनको ,
कहीं इस सामूहिक मृत्यु की अशुभ छाया

आखों में बसे हुए
अ-जनमे तुम्हारे इन सपनों पर न पड जाय।



परिणति

उस दिन भी ऐसी ही रात थी ,
ऐसी ही चाँदनी थी ,
उस दिन भी ऐसे ही अकस्मात्
हम - तुम मिल गए थे ,
उस दिन भी इसी पार्क की इसी बेंच पर बैठ कर
हम ने घण्टों बातें की थीं
घर की, बाहर की, दुनिया - भर की ,
पर एक बात हम ओठों पर न ला पाये थे
जिसे हम दोनों
मन ही मन
माला की तरह फेरते रहे थे !

आज भी वैसी ही रात है ,

वैसी ही चाँदनी है,
आज भी वैसे ही अकस्मात्
हम - तुम मिल गए हैं,
आज भी उसी पार्क की उसी बेंच पर बैठ कर
हमने घन्टों बातें की हैं
घर की, बाहर की, दुनिया - भर की,
पर एक बात हम ओठों पर नहीं ला पाये हैं
जिसे हम दोनों
मन ही मन
माला की तरह फेरते रहे हैं !

वही रात है,
वही चाँदनी है,
वही वचना की भूलभुलैयाँ है,
पर इस एक समानता को छोड़ कर
देखो तो,
आज हम कितने असमान हो गए हैं !

पर नहीं,
अभी एक समानता और भी है
आज हम दोनों जाने की जल्दी में हैं,
तुम्हारा बच्चा भूखा होगा,
मेरी सिगरेटें खत्म हो चुकी हैं !



आज बरसों बाद
अचानक
जब मैं उधर से निकला
तो जैसे कोई पवित्र मोह
मुझे उस पेड तक खींच कर ले गया
जिसके चरणों में बूढे चर्च की लम्बी छाया
आज भी वैसी ही ठहरी हुई थी।
जिस टहनी को तुम्हारे मुलायम हाथों ने सहलाया था
उसकी एक एक पत्ती
जनम मरण के न जाने कितने फेरे लगा चुकी है
फिर भी जब मैंने मुग्ध प्रेरणा से उसे छुआ
तो मानो तुम्हारा हाथ ही छू गया हो!
उन पत्तियों ने अपने सस्पर्श से मानो मुझसे कहा
'लो, यह अपनी थाती सँभालो,
यह तुम्हारा प्राप्य है जिसे हम एक युग से संजोए हैं
अब हमें मुक्त करो!'

मेरी बात का तुम्हें यकीन न हो
तो एक दिन अपनी कार
एक क्षण को उस पेड के पास रोक कर
उस टहनी तक अपना हाथ ले जाकर खुद देख लेना,
पत्तियाँ तुमसे कह देंगी
कि मैं आया था।



टूटे सपनों का सपना

रात मैंने एक स्वप्न देखा।
मैंने देखा
कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई है,
और विश्वामित्र ट्यूशन कर रहे हैं,
उर्वशी ने डांस स्कूल खोल दिया है,
नारद गिटार सीख रहे हैं,
गणेश टॉफी खा रहे हैं,
और बृहस्पति अंग्रेजी से अनुवाद कर रहे हैं।



सबसे छोटी कविता

तुम अमीर थीं
इसीलिये हमारी शादी न हो सकी,
पर, मान लो, तुम गरीब होतीं—
तो भी क्या फर्क पडता !
क्योंकि तब
मैं अमीर होता !!



प्रतीति

अभी तक काव्य ही रचता रहा हूँ
जगत के कर्म से बचता रहा हूँ
बड़ा ही मूर्ख हूँ, पढ़ता रहा हूँ

●

उपवन से बातचीत

आज सवेरे
जब वसन्त आया उपवन में चुपके चुपके
कानों ही कानों में मैने उससे पूछा
'मित्र ! पा गये तुम तो अपना यौवन का उल्लास दुबारा
गमक उठे फिर प्राण तुम्हारे
फूलों - सा मन फिर मुस्काया,
पर साथी !
क्या दोगे मुझको ?
मेरा यौवन मुझे दुबारा मिल न सकेगा ? '

सरसों की उँगलियाँ हिलाकर सकेतों में वह यों बोला
' मेरे भाई !
व्यर्थ प्रकृति के नियमों की यों दो न दुहाई,

होड़ न बाँधो तुम यों मुझसे !
जब मेरे जीवन का पहला पहर झुलसता था लपटों में
तुम बैठे थे बन्द उशीर पटों से घिर कर,
मैं जब वर्षा की बाढ़ों में डूब-डूब कर उतराया था
तुम हँसते थे वाटर-प्रूफ कवच को ओढ़े,
और शीत के पाले में जब गलकर मेरी देह जम गयी
तब बिजली के हीटर से
तुम सेंक रहे थे अपना तन मन !
जिसने झेला नहीं, खेल क्या उसने खेला ?
जो कष्टों से भाग दूर हो गया सहज जीवन के क्रम से
उसको दे क्या दान प्रकृति की यह गतिमयता
यह नव-वेला ?
पीड़ा के माथे पर ही आनन्द तिलक चढ़ता आया है
मुझे देखकर आज तुम्हारा मन यदि सचमुच ललचाया है
तो कृत्रिम दीवारें तोड़ो
बाहर आओ
खुलो, तपो, भीगो, गल जाओ
आँधी तूफानों को सर पर लेना सीखो
जीवन का हर दर्द सहेजो
स्वीकारो हर चोट समय की
जितनी भी हलचल मचनी हो, मच जाने दो
रस विष दोनों को गहरे में पच जाने दो
तभी तुम्हें भी धरती का आशीष मिलेगा,
तभी तुम्हारे प्राणों में भी यह पलाश का फूल खिलेगा !'



आने वालो से एक सवाल

तुम, जो आज से पूरे सौ वर्ष बाद
मेरी कविताएँ पढोगे
तुम, मेरी धरती की नई पौध के फूल
तुम, जिन के लिए मेरा तन - मन खाद बनेगा
तुम, जब मेरी इन रचनाओं को पढोगे
तो तुम्हें कैसा लगेगा
इसका मेरे मन में बडा कौतूहल है !

बचपन में तुम्हें हिटलर और गाँधी की कहानियाँ सुनाई जाएँगी
उस एक व्यक्ति की
जिसने अपने देशवासियों को मोह की नींद सुलाकर
सारे ससार में आग लगा दी ,
और जब लपटें उसके पास पहुँची

तो जिसने डरकर आत्महत्या कर ली
ताकि उनका मोह न टूटे ,
और फिर उस व्यक्ति की
जिसने अपने देशवासियों को सोते से जगाकर
सारे संसार को शान्ति का रास्ता बताया ,
और जब ससार उसके चरणों पर झुक रहा था
तब जिसके देशवासी ने ही उसके प्राण ले लिए
कि कहीं सत्य की प्रतिष्ठा न हो जाय !

तुम्हें स्कूलों में पढ़ाया जायगा
कि सौ वर्ष पहले
इन्सानी ताकतों के दो बड़े राज्य थे
जो दोनों शान्ति चाहते थे
और इसीलिए दोनों दिन रात युद्ध की तैयारी में लगे रहते थे
जो दोनों ससार को सुखी देखना चाहते थे
इसीलिए सारे ससार पर कब्जा करने की सोचते थे ,
और यह भी पढाया जायगा
कि एक राज्य और था
जो ससार भर में शान्ति का मन्त्र फूँकता रहा
पर जिसे अपने ही घर में
भाई भाई के बीच दीवार खड़ी करनी पडी ,
जो हर पराधीन देश की मुक्ति में लगा रहता था
पर जिसके अपने ही अग पराए बधन में जकड़े रहे !

तुम्हें विश्वविद्यालयों में बताया जायगा
कि इन्सान का डर दूर करने के लिए
सौ साल पहले वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे आविष्कार किए
जिनसे इन्सान का डर और भी बढ़ गया ,
और यह भी
कि उसने चाँद - सितारों में भी पहुँचने के सपने देखे
जब कि उसके सारे सपने चकनाचूर हो गए थे !

और तभी किसी दिन
किसी प्राचीन काव्य सग्रह में
तुम मेरी कविताएँ पढोगे ,
और उन्हें पढ़कर तुम्हें कैसा लगेगा
यह जानने का मेरे मन में बडा कौतूहल है !

तुम जो आज से सौ साल बाद मेरी कविताएँ पढोगे
तुम क्या यह न जान सकोगे
कि सौ साल पहले
जिन्होंने तन्मयता से विभोर होकर
आत्मा के मुक्त आरोहण के
या समवेत जीवन की जय के गीत गाए
वे आँखें बन्द किए सपनों में डूबे थे ,
और मैं
जिसका स्वर सदा दर्द से गीला रहा ,
जिसके भर्राए गले से कुछ चीखें ही निकल सकीं ,
मैं सारा बल लगाकर

आँखें खोले
यथार्थ को देख रहा था।



देवता सावधान !

जब तुम्हें मैंने पहले - पहल देखा
तो भक्ति से झुककर मैंने तुम्हारे चरणों पर
अपना भविष्य चढा दिया।
तुमने मुझे आशीर्वाद दिया
और मेरा भविष्य रख लिया,

फिर तुम्हें मैंने अपनी प्रतिभा दी।
तमने मुझे वरदान दिया
और मेरी प्रतिभा ले ली,

फिर तुम्हें मैंने अपनी शक्ति सौंपी।
तुम चुप रहे
पर मेरी शक्ति तुमने स्वीकार की,

सिद्धि की प्रतीक्षा में

जब आँखें मूँदे मुझे एक युग बीत गया
तब मैंने तुम्हें फिर देखा
तुम अचल थे, मूर्तिवत् ,
नहीं
तुम मूर्ति ही थे !

फिर मुझे आशीष और वरदान किसने दिये ?

और तब मैंने पहली बार
तुम्हारे पुजारियों पर नजर डाली
जो तुम्हारी ओट में
मेरा भविष्य, मेरी प्रतिभा, मेरी शक्ति
भोग रहे थे !

मैं तो अब मुक्त हूँ
क्योंकि अपनी स्थिति का ज्ञान ही मुक्ति है ,
पर देवता !
यदि तुम निरे पत्थर ही नहीं हो
तो अपने इन पुजारियों से अपनी रक्षा करो !



दर्द के फूल

बरसों पहले
जब हमारी - तुम्हारी आखिरी भेंट हुई थी
तब अगर जानता
कि यह भेंट आखिरी है
तो मैं सच कहता हूँ
मैं ये फूल न लेता !

उस दिन बिन मांगे ही
तुमने मुझे जो बीज दिए
उन्हें मैंने अपने सपनों में बोया
आंसुओं से सींचा
आशाओं से पाला
हर क्षण उनकी रखवाली की

और आज
वे पूरे वयस्क वृक्ष बनकर
इस भरी बरसात में फूल उठे हैं
गन्ध लुटाने को व्याकुल हैं
और अपनी नन्हीं टहनियों की बाहें हिलाकर
तुम को टेरते हैं
'आओ,
अपने इन फूलों को ले जाओ
ये तुम्हारे ही फूल हैं
तुम्हारे ही दिए
तुम्हारे ही लिए
इन्हें चुनकर अपनी वेणी में गूँथ लो,
इन्हें कोमल सूत्रों में पिरो कर
अपना सिंगार करो।'

पर वह भेंट आखिरी थी
यह आज ही जान पाया हूँ
आज ही
जब ये वृक्ष फूले हैं
और जब इनकी गंध विफल विकल
इधर-उधर टक्कर मार रही है।
आज ही मैं जान पाया हूँ
कि ये फूल तुमने मुझे इसीलिए दिए थे
कि हमारी वह भेंट आखिरी थी

ओर उस दिन
तुम मुझे कुछ ऐसा देना चाहती था
जो मिटे नहीं,
जो हमारी उस भेंट को
तुम्हारी उस अयाचित कृपा को
अमर कर दे !

दर्द के ये फूल !
तुम्हारा उपहार हैं ये
आखिरी उपहार
जिन्हें मैंने आँसुओं से सींचा है
आशाओं से पाला है
सपनों में बसाया है
सिरमाथे स्वीकारा है !

पर एक बात बताओ
क्या दर्द के उन बीजों के सिवा
उस दिन
तुम्हारे पास ऐसा कुछ नहीं था
जो तुम मुझे दे सकतीं
और जो अमर होता ?



अप्रत्याशित

कल रात जब अचानक
तुम मुझे सपने में मिलीं
तो मैंने तुमसे एक प्रश्न किया

वह प्रश्न
जो मेरे मन में बरसों से घुमड़ता रहा है
जो मेरी बेतरतीब जिन्दगी के हर कदम में बालता रहा है
जो मेरी निछुड़ी हुई दृष्टि और खोई हुई भावना से फूटता रहा है
पर जो आज तक किसी ने नहीं सुना
क्योंकि उसका उत्तर एक तुम्हीं दे सकती थीं।

मैंने तुमसे पूछा
'क्या अब तुम्हें मेरी याद नहीं आती?'
अपनी कल्पना में

मैंने तुमसे यह प्रश्न न जाने कितनी बार पूछा है
और सोचा है
इसे सुनकर तुम कैसी लज्जा से लाल हो उठोगी,
अपराधिनी की भांति तुम्हारी नज़रें झुक जाएँगी,
मुह से बोल न फूटेगा
और तुम एक युग पहले के अभ्यास की भाँति
आज भी कोई बहाना करके गायब हो जाओगी
मेरे प्रश्न को अनन्त दर्द का रूप देकर
मेरे दर्द को अनन्त प्रश्न में ढालकर!

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ!
मेरी सारी प्रत्याशाओं पर पानी फेरती हुई
अनासक्त दृष्टि की पवित्र अविचलता से मुझे बाँधकर
मुस्कुराती हुई तुम बोलीं
'हाँ, कभी-कभी आती है,
कभी कभी
जब मैं अपने अवकाश के समय
उस एक क्षण का ध्यान करती हूँ
जब मुझे आलोक की पहली किरण मिली थी
जब मैंने अनुराग की अनायास प्रेरणा से
अपनी पहली पँखुरी खोली थी
और कली से बदलकर फूल का रूप पाया था!
उस क्षण के साथ तुम्हारा चित्र
ऐसे अटूट रूप से जुड़ा हुआ है

कि मे सुधि मुग्ध हो जाती हूँ
और गहरे कृतज्ञ भाव से
फिर - फिर तुम्हारे प्रति समर्पित होती रहती हूँ
किरण के प्रति मुग्ध कमलिनी सी !
मेरे विकास के निमित्त थे तुम
मेरे जीवन के वह अनमोल क्षण थे तुम
जो बस एक ही बार आता है
तुम्हारा दान मैं कैसे भूल सकती हूँ !
आज उस दिन को एक युग बीत चला,
तब से अब तक
मैंने मुस्कराहट की अनन्त निधि लुटाई है
भ्रमर के कोमल स्पर्श से
अधीर चुम्बन से
मेरा रोम रोम कटकित होता रहा है
पर अब भी उस प्रथम किरण - वेला को
मैं नहीं भूली हूँ
जिसके कारण तुम थे ! '
सुनकर मैं दंग रह गया
स्तब्ध और हत - बुद्धि ,
मेरा मन एक नये बोझ से चूर चूर हो उठा
क्योंकि तुमने
अपने अनजाने ही
मेरा युगव्यापी दर्द
झूठा कर दिया था !

●

तुम ओ मेरे पूर्वजो !

दीप्त थीं शिखाएँ जो
धूमहीन निष्कलंक तेज की सवारियाँ
ताम्रारुण लपटें जो पहुँचती थीं व्योम तक
तारों के माथे भी पसीजते थे जिनकी भभक से
तप्तालोक जिनका
हमारे इस अंधे युग पथ की आशा था—
कहाँ हैं वे ?
जवाब दो !
तुम ओ ज्योति-वाहियो !
तुम जिन्हें सौंपी थी इतिहास ने
वह अग्निमयी शक्ति की मंगल निधि,
तुम ओ मेरे पूर्वजो !

जवाब दो !
कहाँ हैं आज स्वर्णिम शिखाएँ वे ?
क्या उन्हें चुराके ले गया यह उलूक दल
जब तुम थे स्वप्नाविष्ट ?
अथवा वे तुमने स्वयं ही बेच डालीं
क्योंकि अब उनका बोझ सहने की ताकत
तुम्हारे इन बूढे - कांपते हाथों में नहीं बची ?
बोलो तुम ,
बोलो ज्योति वाहियो अतीत के ,
आज के किराये के मशालची !
बोलो तुम
इसका जवाब दो !

इस कलंक-गाथा के कुछ पहले
मैंने प्राप्त की थी यह एक लघु चिनगारी
तुमसे ओ पूर्वजो !
यज्ञ की अरणि सी
पैतृक अधिकार - सी !
मैंने इसे धारा है जतन से
बैठक में टंगी
किसी पूर्वज तस्वीर के आडम्बर में नहीं ,
मनकी अनजभ प्रेरणाओं में !
मैंने इसे पाला है कर्म - सा ,
माथे पर झेलकर वर्षा और झञ्झा सब

प्राणों की कच्ची कंदील में
प्रति-पल फूँक - फूँक कर
इसको सुलगाया है
ताकि यह नशधर तुम्हारी ही अग्नि का
उस दिन बने तुम्हारे पथ की सशक्त ज्योति
जिस दिन तुम्हारे बूढे हाथों से छिन जाए
मशाल यह किराए की !

बोलो, क्या ऐसा दिन कभी भी न आएगा ?

परम्परा एक नई उपलब्धि

पहले बिके धर्म पर
फिर बिके भक्ति पर
रूप पर मध्य युग में बिके—
बिकना तो अपनी परम्परा है !

आज इस सकट की बाढ़ में
जब कहीं धम नही
भक्ति नहीं
रूप नहीं ,
हार कर हम बिके चादी के टुकड़ों पर
हम प्रसन्न
हम कृतकृत्य हें
हमने अपनी परम्परा
अक्षुण्ण रक्खी है !

मूर्ति तो हटी, परन्तु

तम में भटकती हुई अनगिनती आँखों को
जिसने नई दृष्टि दी
खोल दिये समुख नये क्षितिज
नूतन आलोक से मण्डित की सारी भूमि
जन - मन के मुक्ति-दूत
उस देवता के प्रति
श्रद्धा से प्रेरित हो
समवेत जन ने
प्रतिमा प्रतिष्ठित की अपने समुख विराट् !
अपने कृतज्ञ हृदयों में बसी
ऊर्ध्वबाहु कल्पना
पत्थर पर आँकी अति यत्न से !

मूर्ति वह अद्वितीय, महाकाय
शीश पर जिसके हाथ धरते थे मेघराज
चरणों में जिसके जन झुकते थे भक्ति से
अजलि के फूल भार के समान
अधरों पर जिसके थी मन्त्र मयी मुस्कान
उल्लसित करती थी लोक - प्राण !

यों ही दिन बीत चले ,
और वह मूर्ति दिन पर दिन, स्वयमेव
मानो और बडी, और बडी होती चली गई !
जड प्रतिमा में बद् यह रहस्य, यह जादू
कितने समझ सके, कितने न समझे—यह कहना कठिन है,
क्योंकि उसे पूजा सब जन ने
भूल कर एक छोटा सत्य यह
पत्थर न घटता है, न बढता है रचमात्र ;
मूर्ति बडी होती जा रही थी
क्योंकि वे स्वय छोटे होते जाते थ
भूल कर एक बडा सत्य यह
मूर्ति की विराटता ने ढँक लिये वे क्षितिज
देवता ने एक एक करके जो खोले थे !

आखिर में एक दिन ऐसा भी आ पहुँचा
मूर्ति जब बन चुकी थी आसमान
और जन बन चुके थे चूहों से, मेंढक से
छोटे, ओछे, नगण्य !

क्षितिजों के सूर्य की जगह थी वह मुस्कान
जिसमें नहीं था कोई अपना आलोक - स्रोत
होकर वे तम में बद फिर छटपटाने लगे।

तभी कुछ साहसी जनों ने बढ
अपनी लघुता का ज्ञान दिया हर व्यक्ति को
और फिर
शून्य वन जाने के भय से अनुप्राणित हो
समवेत जन ने
अपने ही हाथों से गढ़ी हुई
देवता की मूर्ति वह तोड डाली—
छैनी से, टाँकी से, हँसिया से, हथौडी से,
जिसको जो मिला उसी शस्त्र से,
गढते समय भी ऐसा उत्साह कब था ?

देखा तब सबने आश्चर्य से
प्रतिमा की ओट में जो रमी रहीं एक युग
उनकी वे दृष्टियाँ अब असमर्थ थीं
कि सह सकें सहज प्रकाश आसमान का।
और फिर सब ने यह देखा असमंजस से
मूर्ति तो हटी, परन्तु सामने डटा था प्रश्नचिह्न यह
मूँद लें वे आँखें या कि प्रतिमा गढें नई ?
हर अंधी श्रद्धा की परिणति है यह खण्डन!
हर खंडित मूर्ति का प्रसाद है यह प्रश्नचिह्न!!



पी लो यह विष भी !

हाथ क्यों काँप उठे ?
डरो मत ,
सोचो मत ,
पी लो यह विष भी—
यह भी उसी मथन से उपजा है
जिससे मिली तुम्हें पहले की रत्नराशि ,
रुकना नहीं है तुम्हें अब अधबीच में !

अमृत ?
हाँ, खोज थी तुम्हें तो उसी एक की—
किन्तु गाथा कहती है कि वह तो परिणति है !
उसके उदय के पूर्व
प्रतिश्रुति भी कौन दे ?

अमृत का आश्वासन पाकर भविष्य से
विष पीने में नहीं कोई बहादुरी--
त्यागो यह सौदे की भावना
जूझो वर्तमान से—
अन्यथा यह हिचक ही विष बन जाएगी।

विष से अलग, अनपेक्ष नहीं अमृत का अस्तित्व—
मृत्यु या अमृत ये ही दो परिणतियाँ हैं,
विष देख डर जाना—मृत्यु है!
विष पीके पचा लेना—अमृत की यही परिभाषा है!!



अधकार की हदें खींच दो !

भावों की किरणें समेट कर
डूबा अभी अभी पश्चिम में
सूरज का आदर्श - पिण्ड ,
लो ,

कुण्ठाओं की रात घिर गई !
कटा फटा फीका सा चन्दा
आ बैठा है आसमान की इस सूनी, लम्बी दीर्घा में
अलग, तटस्थ पर्यवेक्षक - सा !!

जितने भी पथ थे
सब की परिणति होती है अँधियारे में !
प्राणों के पथी
सहमे, सिमटे बैठे हैं गलियारे में !!

घर-बाहर का यह सूनापन, यह अँधियारा
तुम्हें न डस ले
तुम्हें न ग्रस ले
उठो,
सोच क्या गई ज्योति का !
तुम आस्था का दीप जलाओ,
अंधकार की हदें खींच दो
लौ का यह छोटा सा घेरा
नई किरण का बने पाँवड़ा !



अ-साधारण की चाह डायरी का एक पन्ना

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जनम हुआ,
बचपन भी बीता अति साधारण
साधारण खान - पान
साधारण वस्त्र - वास
और
साधारणता के इस घोर चक्र में
मेरा मन खोजने लगा था असामान्य कुछ!

तब मैं एकाग्र मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला

और असाधारण का पहला स्वाद पा सका !

किन्तु कुछ दिनों बाद
मैंने देखा यह भी अति साधारण बात थी,
मुझसे अनेक परीक्षार्थी थे सर्वत्र
जो कि इम्तहानों में कमाल दिखलाते थे !
तब मैंने पहली बार क्षुद्र इस जीवन में
प्यार किया
अपने से चौगुनी अमीर एक लड़की से,
और जब उसने मुझे दर्द दिया
तब उस विलक्षण दान की गरिमा से
मेरा मन फूल उठा,
काफी दिन इस असाधारण प्रकाश से घिरा हुआ
मैं धरती से कुछ उठा सा, अलग - सा
सपने सजाता रहा,
मन को भरमाता रहा !

पर वह भी मिट गया,
वास्तव की एक ही खरोंच से
उस मेरे स्वप्नशील प्यार का दम निकला,
फ्यूज हो गया वह प्रकाश - पुंज
साधारण झटके से,
मैंने तब अनजाने
असामान्य बनने की चाह में
कविता अपनाई थी !

अब उस बात को भी पूरा युग बीत चुका,
मेरी कविता भी जन साधारण का प्रकाश
मेरी नहीं बची !
साधारण जीवन
साधारण काम - काज
साधारण सुख और साधारण दुख के क्रूर पाश में
आज भी मैं पहले की भाँति ही बेचैन हूँ
एक अ - साधारण की चाह से विकल हूँ,
बार - बार सोचता हूँ
यदि सदा साधारण रहना ही मेरी नियति है
तो फिर
कम से कम इतना हो मेरा भाग्य
मेरे इस जीवन का अन्त असामान्य हो !



इतिहास का कलंक

असमय बादल - सा बेकार उमडा मैं
बेकार गरजा और बेकार बरसा हूँ
ओ धरती ! ओ माता !
तेरे इन हरे - भरे खेतों पर
मैंने जो गोले - से ओले बरसाये हैं दोपहर
उनके लिए तू आज निश्छल हृदय से
मुझे क्षमा कर दे !
क्योंकि मैं विवश था
प्राणों में मेरे वाष्प - जल का जो भार था
मेरा नहीं, वह तो किसी और का ही दान था
मैं तो बस उसे मात्र ढोता ही रहा हूँ,
अपने अकाल जन्म पर इस जीवन में

सच मानो माँ ! मैं तो रोता ही रहा हूँ !
मैंने कब चाहा तुझे त्रास दूँ
मेरी कामना थी कि तुझको उल्लास दूँ ,
मुझे क्या पता था कि यह असमय का रस
पत्थर बनेगा या कि विष बन जायगा ?

आदर्श दानी की परम्परा का पूत मैं
आज उल्टा तुझसे भीख माँगता हूँ दया की
क्या मेरी कामना की भाँति ही
मेरी यह याचना भी बेकार जाएगी ?

क्षमा कर, माता, मुझे क्षमा कर
किसी अज्ञात नियता के पाश में बँधा
मदारी की बीन - सा
अहेरी के तीर सा
अपने अपकर्म का भागी नहीं हूँ मैं !

क्षमा कर, क्षमा कर
मेरे लिए क्या यही शान्ति कुछ कम है
कि मेघों के लम्बे इतिहास का
मैं कलंक हो गया ?



तुम नहीं

सतरंगे स्वप्न लिये आती हैं घटायें
इनसे यह रूखा मन कैसे मिलायें
पर, कैसे हटायें ?

तुम नहीं ,

रसके इस मौसम में
पत्थर बन जाने का दर्द यह
किससे बँटायें ?



बादल, गरज ले !

बादल, गरज ले !
बिजली, विभूति से तू अपने अंग सज ले !!

बज ले
ओ मेरे रोम-तार !
तू इस वर्षाघात से बज ले !

क्या पता, उतरती इस धार में ही घुलकर
मेरा मन मँज ले !



उपलब्धि

प्यासा तट जहाँ था, वहीं रहा—
धारा ही आई !

प्लावन की वेला में
आज नई उपलब्धि पाई

निश्चल समर्पण ही सिद्धि है ,
रस की खोज में भटक
मैंने उम्र यों ही गँवाई !



रस में ये डूबे पल

नदिया में बाढ़ आई
ढूह सब ढह गये
हरियाये किनारे
सूखे पत्ते सब बह गये
रस में ये डूबे पल
कानों में कह गये

'तपने से डरते थे?
इसीलिये, देखो
तुम आज सूखे रह गये!'



दर्द के तिनके

मिट गये थे चिह्न तक जिनके
वही तिनके
फिर अचानक लहलहाने लग गये।

और

रसके इन पलों में
वे मिटाये दर्द भी, लो, सिर उठाने लग गये !!



दूर की घटाओ !

दूर की घटाओ !
रंगों की हाट यह अपनी हटाओ !!

मुझे नहीं भाता है
निलज प्रदर्शन यह और अकुलाता है !

मुझ को तो लाओ
बस,
हलकी फुहार एक
जिससे इन प्राणों को शीतल परस मिले
रंग नहीं, रस मिले !



सीपी की सीख

नाचने लगे हैं मोर
गहराने लगी है आसमान की सजीली कोर

अब वर्षा आयेगी
स्वाति की एक बूँद मोती बन जायेगी
छोटी-सी सीपी यह हमको सिखायेगी
रस का सही महण कितनी बड़ी बात है !

मोरों का रोर यह, मेंढकों का यह शोर
केवल उत्पात है !



कागज की नाव

कागज की नाव जो हमने बनाई थी
धारा में बहाई थी—
वह अब डूबने लगी।

आओ,
इन बच्चों की भांति ही
हम भी खुश हो होकर बजायें क्यों न तालियां ?
कोई यह न कह बैठे
हम नहीं जानते ये खेल की प्रणालियां।



कर्कश का आवरण

मेंढक की टर्राहट कर्कश हो कितनी ही
उसमें छुपी है
मधु कोमल प्यार की पुकार
(साक्षी है जीव-शास्त्र !)

ध्वनियों की तह तक पहुँचने का दम तुम्हें !
ओ रे गवाले !
साहस हो तो भेदो कर्कश का आवरण !

●

तुक की व्यर्थता

दर्द दिया तुमने बिनमाँगे, अब क्या माँगूँ और ?
मन के मीत ! गीत की लय, लो, टूट गई इस ठौर
गान अधूरा रहे भटकता परिणति को बेचैन
केवल तुक लेकर क्या होगा गौर, बौर, लाहौर ?



कौंध तो अभिव्यक्ति है !

दर्द के घुटे घिरे बादलों में
अचानक
बिजली की तड़प कौंध गई !
एक क्षण को
सारा आसमान प्रकाश से भर गया
तीखे, उद्धत, क्षणिक प्रकाश से—
तुम्हारे प्यार की तरह
हाँ, ठीक तुम्हारे प्यार की तरह !

और दूसरे ही क्षण
आसमान बुझ गया,
बादल और गहरा गये !

मन ने कहा, कहूँ
कि जो प्रकाश लुप्त हो गया है
वह मिटा नहीं है।
बादलों की ओट में
वह अब भी सुरक्षित है,
और क्रोध ?
क्रोध तो अभिव्यक्ति है
मात्र अभिव्यक्ति—
क्षण ही उसका स्वभाव है।

पर फिर नहीं कहा।

सोचा
कि कहीं यह तुम्हें आडम्बर न लगे,
बनावटी आवेग—
किसी ऐक्टर की नाटकीय व्यंजना।

पर सुनो,
मेरे इस मौन से तुम यह न समझना
कि मेरा विश्वास कच्चा है।



गीत नहीं मिले

मिट्टी का परस कभी जाना नहीं
मिट्टी का सम्मोहन ?
माना नहीं।
अपने हाथों उगाया कभी एक दाना नहीं
इसीलिए—
आया तुझे गाना नहीं !



एक सूक्ति

रेत का महल
कोरी कल्पना है।

इसीलिए,
कोरी कल्पना की कला
रेत का महल है।



समाधि-लेख

रस तो अनन्त था, अँजुरी भर ही पिया
जी में वसन्त था, एक फूल ही दिया
मिटने के दिन आज मुझको यह सोच है
कैसे बड़े युग में कैसा छोटा जीवन जिया !

●

स्वर ही किरण है

गहरे अँधियारे को चीरती
आई कीर की पुकार
पहले कुछ मद्धिम,
फिर दुनिवार !

तम में अतल तक डूबी हुई डालों पर
सोये अनगिनती खग
उस उद्दाम स्वर से ही अनुप्रेरित हो
डोल उठे !
उत्तर में जागकर बोल उठे !!
गूँज उठा आसमान गीतों के प्रभात में।

तू भी ओ मेरे अप्रस्तुत मन !
टेर दे !

घुटते तिमिर को स्वरों से बिखेर दे !!
अभी, पल झपते ही
मौन अँधियारे में
तेरे अनगिनती अपरिचित सह-भागी
प्रतिध्वनि उठायेंगे !
गायेंगे !!

